

बालो वेत्ति हिताहितं न विकलो लोकेत्र कामातुर-
स्तारुण्ये गतयौवने च नितरां प्राणी जरापीडितः।
मध्यस्थोपि कुटुम्बदुर्भरतृषाक्रान्तः कदा स्वस्थता
दैवात्प्राप्य जिनेन्द्रशासनमसौ भव्योस्तु धर्माशयः ॥१६॥
इति कथाकोशे पवित्रहृदयबालकस्य कथा समाप्ता।

१७. धनदत्तराज्ञः कथा

नत्वा श्रीमज्जिनाधीशं सुराधीशैः समर्चितम्। धनदत्तमहीभर्तुः सत्कथां कथयाम्यहम् ॥१॥
अन्धदेशेऽत्र विख्याते धान्यादिकनकेपुरे। धनदत्ताभिधो राजा सद्वृष्टिर्धर्मवत्सलः ॥२॥
संघश्रीवन्दकस्तस्य मंत्री मिथ्यामताश्रितः। एवं राज्यं करोति स्म धर्मकर्मपरो नृपः ॥३॥
एकदा धनदत्ताख्या-संघश्रीभ्यां स्वलीलया। ताभ्यां मंत्रप्रकुर्वद्भ्यां प्रासादस्योपरि क्षितौ ॥४॥
कालेऽपराणहके तत्र समालोक्य नभस्तले। मुनीन्द्रौ चारणौ चित्ते चमत्कारविधायिनौ ॥५॥
ससम्भ्रमं समुत्थाय कृत्वा तद्वन्दनां मुदा। स्वान्तिके तौ समानीतौ साधुसङ्गः सतां प्रियः ॥६॥
तदा तस्य महीभर्तुर्वचनेन विचक्षणौ। श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्म-व्याख्यानं संविधाय तौ ॥७॥

तरह गँवा बैठते हैं और प्राप्त करते हैं वही एक संसार भ्रमण। जिसमें अनन्त काल ठोकें खाते-खाते बीत गए। पर ऐसा करना उचित नहीं किन्तु प्रत्येक जीवमात्र को अपने आत्महित की ओर ध्यान देना परमावश्यक है। उन्हें सुख प्रदान करने वाला जिनधर्म ग्रहण कर शान्तिलाभ करना चाहिए ॥१६॥

१७. धनदत्त राजा की कथा

देवादि के द्वारा पूज्य और अनन्तज्ञान, दर्शनादि आत्मीयश्री से विभूषित जिनभगवान् को नमस्कार कर मैं धनदत्त राजा की पवित्र कथा लिखता हूँ ॥१॥

अन्धदेशान्तर्गत कनकपुर नामक एक प्रसिद्ध और मनोहर शहर था। उसके राजा थे धनदत्त। वे सम्यग्दृष्टि थे, गुणवान् थे और धर्मप्रेमी थे। राजमंत्री का नाम श्रीवन्दक था। वह बौद्ध धर्मानुयायी था परन्तु तब भी राजा अपने मंत्री की सहायता से राजकार्य अच्छा चलाते थे। उन्हें किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती थी ॥२-३॥

एक दिन राजा और मंत्री राजमहल के ऊपर बैठे हुए कुछ राज्य सम्बन्धी विचार कर रहे थे कि राजा को आकाशमार्ग से जाते हुए दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों के दर्शन हुए। राजा ने हर्ष के साथ उठकर मुनिराज को बड़े विनय से नमस्कार किया और अपने महल में उनका आह्वान किया। ठीक भी है 'साधुसंगः सतां प्रियः' अर्थात्-साधुओं की संगति सज्जनों को बहुत प्रीतिकर जान पड़ती है ॥४-६॥

इसके बाद राजा के प्रार्थना करने पर मुनिराज ने उसे धर्मोपदेश दिया और चलते समय वे श्रीवन्दक मंत्री को अपने साथ लिवा ले गए। ले जाकर उन्होंने उसे समझाया और आत्महित की इच्छा

संघश्रीवन्दकं कृत्वा श्रावकं परमादरात्। स्वस्थानं जग्मतुः पूतौ मुनीन्द्रौ गुणशालिनौ ॥८॥
 बुद्धश्रीवन्दकं सोपि संघश्रीः स्वगुरुं सदा। त्रिसन्ध्यं वन्दितुं याति पुरा मिथ्यात्वमोहितः ॥९॥
 तस्मिन्दिने गतो नैव वन्दनासमये ततः। बुद्धश्रिया समाहूय स नीतो निजपाशर्वकम् ॥१०॥
 नमस्कारमकुर्वन्सन्मृष्टोसौ वन्दकेन च। न प्रणामं करोषीति कथं रे साम्प्रतं मम ॥११॥
 मंत्रिणा मुनिवृत्तान्ते कथिते सुमनोहरे। वन्दकेन तदा प्रोक्तं पापिना पलभक्षिणा ॥१२॥
 हा हा त्वं वञ्चितोसीति सन्ति नैवात्र चारणाः। मुनयो गगने मूढ गम्यते किं निराश्रये ॥१३॥
 राजा ते कपटी लोके दर्शयामास साम्प्रतम्। इन्द्रजालं महाभ्रान्तिं मा गास्त्वं बुद्धभाक्तिकः ॥१४॥
 एवं मिथ्यात्वमानीतो वारितो नितरामसौ। प्रभाते त्वं च मा गच्छ भूपतेः सदसि ध्रुवम् ॥१५॥
 गत्वापि तत्र मावादी मया दृष्टौ मुनी इति। संघश्रीस्तत्समाकर्ण्य श्रावकत्वमपाकरोत् ॥१६॥
 स्वयं ये पापिनो लोके परं कुर्वन्ति पापिनम्। यथा सन्तप्तमानोऽसौ दहत्यग्निर्न संशयः ॥१७॥
 धनदत्तो महीभर्ता सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः। प्रभाते स्वसभामध्ये महाधर्मानुरागतः ॥१८॥

से उसके प्रार्थना करने पर उसे श्रावक के व्रत दे दिये। श्रीवन्दक अपने स्थान लौट आया। इसके पहले श्रीवन्दक अपने बौद्धगुरु की वन्दनाभक्ति करने को प्रतिदिन उनके पास जाया करता था। सो जब उसने श्रावकव्रत ग्रहण कर लिए तब से उसने जाना छोड़ दिया। यह देख बौद्धगुरु ने उसे बुलाया, पर जब श्रीवन्दक ने आकर भी उसे नमस्कार नहीं किया? तब संघश्री ने उससे पूछा—क्यों आज तुमने मुझे नमस्कार नहीं किया। उत्तर में मंत्री ने मुनि के आने, उपदेश करने और अपने व्रत ग्रहण करने का सब हाल संघश्री से कह सुनाया। सुनकर संघश्री बड़े दुःख के साथ बोला—हाय! तू ठगा गया, पापियों ने तुझे बड़ा धोखा दिया। क्या कभी यह संभव है कि निराश्रय आकाश में भी कोई चल सकता है? जान पड़ता है तुम्हारा राजा बड़ा कपटी और ऐन्द्रजालिक है। इसलिए उसने तुम्हें ऐसा आश्चर्य दिखला कर अपने धर्म में शामिल कर लिया। तुम तो भगवान् बुद्ध के इतने विश्वासी थे, फिर भी तुम उस पापी राजा की बहकावे में आ गए? इस तरह उसे बहुत कुछ ऊँचा नीचा समझाकर संघश्री ने कहा अब तुम कभी राजसभा में नहीं जाना और जाना भी पड़े तो यह आज का हाल राजा से नहीं कहना। कारण वह जैनी है। सो बुद्धधर्म पर स्वभाव ही से उसे प्रेम नहीं होगा। इसलिए क्या मालूम कब वह बुद्धधर्म का अनिष्ट करने को तैयार हो जाये? बेचारा श्रीवन्दक फिर संघ श्री की चिकनी चुपड़ी बातों में आ गया। उसने श्रावक-धर्म को भी उसी समय जलांजलि दे दी। बहुत ठीक कहा गया है— ॥७-१६॥

जो स्वयं पापी होते हैं वे औरों को भी पापी बना डालते हैं। यह उनका स्वभाव ही होता है। जैसे अग्नि स्वयं भी गरम होती है और दूसरों को भी जला देती है ॥१७॥

दूसरे दिन धनदत्त ने राजसभा में बड़े आनन्द और धर्मप्रेम के साथ चारणमुनि का हाल सुनाया। उनमें प्रायः लोगों को, जो कि जैन नहीं थे, बहुत आश्चर्य हुआ। उनका विश्वास राजा के

सामन्तादिमहाभव्य-लोकानामग्रतः सुधीः। चक्रे चारणयोगीन्द्र-समागमकथां शुभाम् ॥१९॥
 विश्वासहेतवे तत्र समाहूय च मंत्रिणम्। अहो मंत्रिनृपः प्राह कीदृशौ तौ मुनीश्वरौ ॥२०॥
 तेनोक्तं निन्दकेनेति वन्दकेन सुपापिना। नैव दृष्टं किमप्यत्र मया भो चारणादिकम् ॥२१॥
 तदा संघश्रियस्तस्य महापापप्रभावतः। कष्टतः स्फुटिते नेत्रे तत्क्षणाद् दुष्टचेतसः ॥२२॥
 प्रभावो जिनधर्मस्य सूर्यस्येव जगत्त्रये। नैव संछाद्यते केन घूकप्रायेण पापिना ॥२३॥
 जैनधर्मं प्रशस्योच्चैः सर्वे ते भूमिपादयः। संजाताः श्रावकाचारः चञ्चवो भक्तिनिर्भराः ॥२४॥

इत्थं श्रीजिनशासनेऽतिविमले देवेन्द्रचन्द्रार्चिते
 ज्ञात्वा भव्यजनैः प्रभावमतुलं स्वर्गापवर्गप्रदे।
 त्यक्त्वा भ्रातिमतीव शर्मनिलये कार्या मतिर्निर्मला
 धर्मे श्रीजिनभाषितेऽत्र नितरां सर्वेष्टसंसाधिनी ॥२५॥

इति कथाकोशे धनदत्तराज्ञः कथा समाप्ता।

कथन पर नहीं जमा। सब आश्चर्य भरी दृष्टि से राजा के मुँह की ओर देखने लगे। राजा को जान पड़ा कि मेरे कहने पर लोगों को विश्वास नहीं हुआ। तब उन्होंने अपनी गंभीरता को हँसी के रूप में परिवर्तित कर झट से कहा, हाँ मैं यह कहना तो भूल ही गया कि उस समय हमारे मंत्री महाशय भी मेरे पास ही थे। यह कहकर उन्होंने मंत्री पर नजर दौड़ाई पर वे उन्हें नहीं दीख पड़े। तब राजा ने उसी समय नौकरों को भेजकर श्रीवन्दक को बुलवाया। उसके आते ही राजा ने अपने कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उससे कहा—मंत्री जी, कल दोपहर का हाल तो इन सबको सुनाएँ कि वे चारणमुनि कैसे थे? तब बौद्धगुरु का बहकाया हुआ पापी श्रीवन्दक बोल उठा कि महाराज, मैंने तो उन्हें नहीं देखा और न यह संभव ही है कि आकाश में कोई चल सके? पापी श्रीवन्दक के मुँह से उक्त वाक्यों का निकलना था कि उसी समय उसकी दोनों आँखें मुनिनिन्दा के तीव्र पाप के उदय से फूट गई ॥१८-२२॥

जैसे संसार में फैले हुए सूर्य के प्रभाव को उल्लू नहीं रोक सकता, ठीक उसी तरह पापी लोग पवित्र जिनधर्म के प्रभाव को कभी नहीं रोक सकते। उक्त घटना को देखकर राजा वगैरह ने जिनधर्म की खूब प्रशंसा की और श्रावक धर्म स्वीकार कर वे उपासक बन गए ॥२३-२४॥

इस प्रकार निर्मल और देवादि के द्वारा पूज्य जिनशासन का प्रभाव देखकर भव्य पुरुषों को उचित है कि वे निर्भ्रान्त होकर सुख के खजाने और स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले पवित्र जिनधर्म की ओर अपनी निर्मल और मनोवांछित की देने वाली बुद्धि को लगावें ॥२५॥

१८. ब्रह्मदत्तस्य कथा ।

प्रणम्य परया भक्त्या जिनेन्द्रं जगदर्चितम् । ब्रह्मदत्तकथां वक्ष्ये सतां सद्बोधहेतवे ॥१॥
 काम्पिल्यनगरेऽत्रैव राजा ब्रह्मरथः सुधीः । राज्ञी रूपगुणोपेता रामिल्या प्राणवल्लभा ॥२॥
 तयोर्द्वादशचक्रेशो ब्रह्मदत्तोभवत्सुतः । षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं संसाध्य सुखतः स्थितः ॥३॥
 एकदा सूपकारश्च तस्मै विजयसेनवाक् । भोजनावसरे तप्तं पायसं दत्तवांस्ततः ॥४॥
 उष्णत्वात्तेन तद्भोक्तु-मसमर्थेन चक्रिणा । तेनैव पायसेनाशु क्रोधान्धेन कुबुद्धिना ॥५॥
 मस्तके दाहयित्वा च सूपकारः स मारितः । धिक्कोपं प्राणिनां लोके कष्टकोटिविधायकम् ॥६॥
 ततो विजयसेनोसौ सूपकारः सुदुःखितः । मृत्वा क्षारसमुद्रस्थे रत्नद्वीपे सुविस्तृते ॥७॥
 भूत्वा व्यन्तरदेवश्च विभंगज्ञानचक्षुषा । ज्ञात्वा पूर्वभवं कष्टं महाकोपेन कम्पितः ॥८॥
 परिव्राजकरूपेण पूर्ववैरेण संयुतः । कदल्यादिमहामिष्ट-फलान्यादाय वेगतः ॥९॥
 तत्रागत्य ततस्तस्मै ब्रह्मदत्ताय दत्तवान् । स जिह्वालम्पटश्चक्री भक्षित्वा सुफलानि च ॥१०॥

१८. ब्रह्मदत्त की कथा

परम भक्ति से संसार पूज्य जिन भगवान् को नमस्कार कर मैं ब्रह्मदत्त की कथा लिखता हूँ । वह इसलिए कि सत्पुरुषों को इसके द्वारा कुछ शिक्षा मिले ॥१॥

काम्पिल्य नामक नगर में एक ब्रह्मरथ नाम का राजा रहता था । उसकी रानी का नाम था रामिली । वह सुन्दरी थी, विदुषी थी और राजा को प्राणों से भी कहीं प्यारी थी । बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त इसी के पुत्र थे । वे छह खण्ड पृथ्वी को अपने वश करके सुखपूर्वक अपना राज्य शासन का काम करते थे ॥२-३॥

एक दिन राजा भोजन करने को बैठे उस समय उनके विजयसेन नाम के रसोइये ने उन्हें खीर परोसी । पर वह बहुत गरम थी, इसलिए राजा उसे खा न सके । उसे इतनी गरम देखकर राजा रसोइये पर बहुत गुस्सा हुए । गुस्से में आकर उन्होंने खीर के उसी बर्तन को रसोइये के सिर पर दे मारा । उसका सिर सब जल गया । साथ ही वह मर गया । हाय ! ऐसे क्रोध को धिक्कार है, जिससे मनुष्य अपना हिताहित न देखकर बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठता है और फिर अनन्त काल तक कुगतियों में दुःख भोगता रहता है ॥४-६॥

रसोइया बड़े दुःख से मरा सही, पर उसके परिणाम उस समय भी शान्त रहे । वह मरकर लवण समुद्रान्तर्गत विशालरत्न नामक द्वीप में व्यन्तर देव हुआ । विभंगावधिज्ञान से वह अपने पूर्वभव की कष्ट कथा जानकर क्रोध के मारे काँपने लगा । वह एक संन्यासी के वेष में राजा के पास आया और राजा को उसने केला, आम, सेव, सन्तरा आदि बहुत से फल भेंट किए । राजा जीभ की लोलुपता से उन्हें खाकर संन्यासी से बोला-साधुजी, कहिए आप ये फल कहाँ से लाये? और कहाँ